के.आर. शर्मा

स्कूल की मार

जैसा कि हमारे समाज में होता है जैसे ही बच्ची या बच्चा चलने–फिरने, बोलने–बतियाने लगे, थोड़ा बहुत समझने लगे कि उसे स्कूल में भर्ती करा दिया जाता है। आखिर बच्चे को घर पर रखकर करें भी क्या! कोई बिगाड़ना थोड़े ही है। और बच्चों को पढ़ाने के लिए स्कूल के अलावा दूसरी जगहें भी कहां हैं समाज में। यानी कि स्कूल का दूसरा कोई विकल्प भी तो नहीं है ना।

जब हमारी बेटी साढ़े तीन साल की हो गई तो उसे स्कूल में भर्ती कराने की चर्चाएं, चिंताएं होने लगीं। हालांकि हम लोग बच्ची को स्कूल में भर्ती कराने में देरी कर चुके थे, ऐसा कुछेक लोगों का कहना था। साढ़े तीन साल की बच्ची 'सोनू' पता नहीं कितनी चीज़ों को अपना खिलौना बना डालती थी, गीत गाती थी, तंग भी करती थी, इसलिए उसे स्कूल में भर्ती कराना हमारी मजबूरी थी। जब स्कूल में भर्ती कराने की बारी आई तो हमने तय किया था कि कम–से–कम एक ऐसे स्कूल में बच्ची को डालें जिसमें उसे खुलापन मिले, जहां उसके बचपन का ध्यान रहे। चूंकि 'तोत्तोचान' नामक एक जापानी बच्ची के बारे में लिखी गई पुस्तक को मैंने पढ़ रखा था इसलिए उस नन्हीं–सी बच्ची तोत्तो के वाकियात तस्वीर की शक्ल अख्तियार करके आंखों के सामने घूमने लगते थे। पुराने रेल के डिब्बे में तोत्तोचान की कक्षा लगती थी। कुल मिलाकर तोत्तो को इस नए स्कूल में बड़ा मज़ा आता था। स्कूल में उसको अपनापन लगता था, किसी प्रकार का डर नहीं। न ही ऊब होती थी स्कूल में। सब कुछ सहज और सबसे अहम बात यह थी कि सीखने–सिखाने की प्रक्रियाएं मौजूद थीं, चुनौतीपूर्ण किन्तु सहज। आप मानें या न मानें, पर हम ऐसे ही एक स्कूल की तलाश में थे। शहर के अनेक स्कूल छाने–सरकारी और प्राइवेट दोनों। दरअसल सरकारी स्कूलों से तो हम शहरी पढ़े–लिखे लोग नाक–भौं सिकोड़ने लगते हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं है।

इसी दरम्यान मुझे पता चला कि शहर की एक प्रतिष्ठित कॉलोनी में सरकारी स्कूल था जिसको शिक्षा विभाग को बंद करना पड़ा, ''क्योंकि सरकारी स्कूलों में रखा क्या है।''

मन में यह सवाल बरकरार था कि आखिर सरकारी स्कूलों की पढ़ाई के तौर–तरीकों में तो कोई फर्क नहीं और प्राइवेट स्कूल अंग्रेज़ी का राग अलापते हैं। खैर सरकारी स्कूलों में देखी–समझी अव्यवस्था के चलते हमने तय किया कि किसी प्राइवेट स्कूल में ही बच्ची को भर्ती कराना उचित होगा। सो शहर की एक अच्छी समझी जाने वाली स्कूल में हमने अपनी बेटी 'सोनू' को भर्ती करा दिया।

घर का नाम सोनू, बाहर का नाम श्रुति। स्कूल में बच्ची के इन्टरव्यू के दौरान एच.एम. (हेडमास्टर) से काफी बतिया रही थी वो। सोनू का एडमिशन हो गया। नियम कानूनों के बारे में एच.एम. ने हमें बताया। कोई दर्जन भर से भी ज़्यादा नियम कानूनों को पालन करने के लिए हमसे हामी भरवाई गई।

हम कभी नहीं भूल सकते जब साढ़े तीन साल की नन्हीं–सी जान स्कूल जाने के लिए लालायित थी। हमारे आगे–आगे भागी जा रही थी। उसने अपने बस्ते में कुछेक खिलौने रखे थे। शायद सोचा होगा कि स्कूल में खेलने–कूदने को मिलेगा।

स्कूल पहुंचने पर उसकी टीचर ने हमें किताबों की एक लंबी फेहरिस्त थमा दी। बच्ची को टीचर के सुपुर्द किया। टीचर ने बच्ची

का बस्ता देखा, हमें वापस बुलाया और उसके बस्ते के खिलौने हमें यह कहकर दे दिए कि यहां इनकी ज़रूरत नहीं! वह अपने चहेते खिलौनों से जुदा नहीं होना चाहती थी, उसने ज़िद भी की। बहरहाल बस्ते में खिलौनों की जगह किताबों ने ले ली।

शाम का समय – सोनू स्कूल से घर लाई जा चुकी है। हालांकि बस्ते में नई–नई किताबें भरी थीं, किंतु उसने शाम को बस्ते की तरफ देखा भी नहीं और अपने खिलौनों में मशगूल हो गई।

दूसरे दिन वह स्कूल जाने के नाम पर सिसकाते हुए बोली– ''मैं स्कूल नहीं जाऊंगी।''

''क्यों नहीं जाओगी?'', उसकी मां ने पूछा।

''स्कूल तो गंदी है .. नहीं जाऊंगी।''

''टीचर डांटती है।''

''लिखने को कहती हैं टीचर।''

''वहां खेलने नहीं देते।''

''मेरी दोस्त से बात भी नहीं करने देतीं। हम सभी मुंह पर अंगुली रखने को कहती हैं।''

टुकड़े–टुकड़े में उसने सब कुछ बताया और वह फिर खेलने में व्यस्त हो गई।

सोनू स्कूल न जाने की हर संभव कोशिश करती है। अक्सर वह स्कूल जाने के समय हमारे पड़ोसी के घर चली जाती है। पर उसे स्कूल तो जाना ही है। जबरदस्ती सोनू को स्कूल भेजा जाता है।

कुछ ही दिनों में हमें अहसास हो गया कि स्कूल बच्ची को खुशियां प्रदान नहीं कर पाएगा। हम यह तो समझते हैं कि हर काम में खुशियां नहीं मिलतीं। और बच्चों को कठिन काम भी सौंपने चाहिए, पर उन कामों में चुनौतियां होनी चाहिए। हकीकत यह है कि स्कूल में बच्चों को चुनौतियां नहीं परोसी जाती।

एक दिन मैं सोनू से पूछता हूं, ''स्कूल में तुम्हें क्या अच्छा लगता है?''

वह कहती है, ''कुछ भी नहीं।''

''फिर भी, कुछ तो अच्छा लगता होगा?''

वह थोड़ा सोचती है, और कहती है, ''हां, क्लास के बाहर मैदान में कुत्ते के छोटे–छोटे बच्चे घूमते रहते हैं, वे बड़े अच्छे लगते हैं? पर टीचर तो खिड़की में से बाहर देखने भी नहीं देती!''

रोज़ का सिलसिला बन पड़ा था– सोनू का स्कूल जाने के दौरान रूठना, बहाने बनाना! वह दूसरी कक्षा में प्रवेश पा चुकी थी।

एक दिन जो वाकिया हुआ उसने हमारे दिलो–दिमाग को हिलाकर रख दिया। शाम को सोनू स्कूल से घर आती है। उसका खाने का डिब्बा ज्यों–का–त्यों है। पूछने पर बताती है टीचर ने नहीं खाने दिया।

''क्यों?'', सोनू की मां ने पूछा।

इस 'क्यों' का उसके पास कोई जवाब नहीं था। दूसरे दिन हम टीचर से मिले।

पूछने पर टीचर ने कहा, ''देखिए जो लिखने को दिया था वह इसने नहीं लिखा। इसलिए इसको खाना नहीं खाने दिया।'' (हमने देखा कि कक्षा में 8–10 नन्हें बच्चे बेंच पर खड़े हैं।)

हमने पूछा कि बच्ची ने लिखा नहीं इसलिए उसको दोपहर के खाने से वंचित रखना कहां तक तर्कसंगत है? क्या उसको खाना नहीं खाने देने से वह लिखेगी?

टीचर बड़े गुस्से में बोली, ''देखिए यह सब तो करना पड़ता है और मैंने उसकी पिटाई तो नहीं की है। थोड़ा–सा तो डराना पड़ता है।''

दरअसल अच्छे–से–अच्छे समझे जाने वाले स्कूलों में भी छात्रों को किसी–न–किसी प्रकार की सज़ा दी जाती है। मैं पूछना चाहता हूं कि क्या बिना सज़ा के बच्चों को पढ़ाया नहीं जा सकता? जबकि सच्चाई तो यह है कि स्कूल की पढ़ाने की प्रक्रियाएं सहज और रुचिकर नहीं होती और इस वजह से बच्चे ऊबने लगते हैं, शरारत करने लगते हैं। बच्चों को कक्षा की दीवार पर लगे ब्लेक बोर्ड पर फूल पत्ती का चित्र बनाकर पढ़ाया जाता है जबकि खिड़की में हाथ डालकर पत्ती तोड़ी जा सकती है।

तीसरी कक्षा में पानी के बारे में पढ़ाया जा रहा है–पानी में कौन–कौन–सी चीज़ें घुलती हैं? यह केवल ब्लेक बोर्ड पर बताया जाता है।

तीसरी में ही विज्ञान विषय में पेड़ के बारे में पढ़ाया जाता है। एक दिन सोनू ने घर आकर बताया कि पापा पौधे के बारे में टीचर

ने होमवर्क दिया है। होमवर्क कॉपी में चित्र बनाने से पहले मैंने छोटा–सा पौधा उखाड़ा और उसको बताया। अनेक सवाल–जवाब हुए। और फिर उसने कॉपी में उस पौधे का चित्र बनाया। टीचर ने जब कॉपी जांची तो पौधे के चित्र को काट दिया। इसलिए क्योंकि किताब में और उसकी कॉपी में बने चित्र में फर्क था। कॉपी में बनाया चित्र था तो पौधे का, पर उसकी पत्तियां लंबी न होते हुए गोलाई लिए हुए थीं। उसने जो देखा था हुबहू बना डाला था इस वजह से कॉपी में नोट मिला कि फिर से चित्र बनाओ। ऐसे और भी कितने ही मामलों में हमने सोनू को अपने आसपास की चीज़ों को देखने के लिए प्रेरित किया किंतु नतीजे उल्टे ही निकले। जो किताब में लिखा है बस वही सच है – टीचर कहती है।

एक कारण यह भी है कि सोनू को कोर्स की किताबें पढ़ने में ज़रा भी मज़ा नहीं आता। जबकि हमने देखा कि वह दूसरी कहानी–किस्सों की किताबें चाव से पढ़ती है। रविवार को अखबारों में बच्चों के कॉलम में प्रकाशित सामग्री को सोनू बड़े चटखारे ले लेकर पढ़ती है।

प्राइवेट स्कूलों की एक सबसे बड़ी दिक्कत यह भी है कि बच्चे स्कूल के अलावा घर पर भी चैन से नहीं जी सकते। स्कूल से घर आए कि होमवर्क के लिए जोत दिए जाते हैं।

बच्चों को क्या समझ में आया इससे कोई लेना–देना नहीं, होमवर्क पूरा होना चाहिए। और जो पूछा जाए उसका उत्तर दिया जाए – बस ताकि परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो सके। हमने देखा कि जब सोनू तीसरी कक्षा में थी तब तीन–तीन घंटों तक तो उसको होमवर्क ही करना पड़ता था। यदि होमवर्क नहीं हुआ तो दूसरे दिन डायरी में एक लंबा–सा नोट पालक के लिए भेजा जाता है।

मैं सोचता हूं कि प्राइवेट स्कूल किस मायने में बेहतर होते हैं? क्या यहां के शिक्षकों का शैक्षिक स्तर बेहतर होता है? क्या यहां की शिक्षण पद्धति सरकारी स्कूलों से फर्क होती है! हम पिछले कुछ वर्षों से देख रहे हैं कि ऐसा तो कुछ भी नहीं। प्राइवेट स्कूलों में तो अंग्रेजी का बोलबाला होता है फिर भी सरकारी स्कूलों के शिक्षकों से शैक्षिक स्तर पर प्राइवेट स्कूल के शिक्षक बेहतर नहीं दिखे। न ही पढ़ाई के तौर तरीकों में कोई बुनियादी फर्क दिखा। बल्कि एक चीज़ ज़रूर दिखी कि प्राइवेट स्कूल के बच्चों को बस्ते का बोझा अधिक है। पाठ्य–पुस्तक निगम की पुस्तकों के अलावा दिल्ली–कलकत्ते के निजी प्रकाशनों की महंगी किताबें बस्ते का बोझ बढ़ा देती है।

अच्छे स्कूल समझे जाने वाले स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों के बस्ते भारी भरकम होते हैं, वहां अनुशासन का कहीं ज़्यादा दबदबा होता है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं – स्कूल के माहौल को एकदम असहज बनाने की भरपूर कोशिश होती है। शायद बच्चों को चारदीवारी में बंद करके उन्हें उबाने में स्कूल को आनंद और संतोष मिलता है। बच्चों को कंट्रोल करने के लिए शारीरिक दंड मिलता है या उनके साथ जो बर्ताव होता है, वह भी अक्सर हिंसात्मक होता है।

सोनू के स्कूल जाते हुए हम इतने मजबूर हो गए हैं कि चाहकर भी घर पर सीखने की प्रक्रियाओं पर ज़ोर नहीं दे पाते थे। क्योंकि हमें बच्ची को वह सब कुछ प्राथमिकता के आधार पर कराना होता है जो स्कूल चाहता है। स्कूल में प्रतिस्पर्धा का ज़बरदस्त बोलबाला है। पल–पल में प्रतिस्पर्धा है। यहां तक कि बाल सभा जो कि स्कूल का अनौपचारिक कार्यक्रम होना चाहिए, वहां भी हर बच्ची या बच्चे को बोलने की छूट नहीं दी जाती और वातावरण इस तरह बनता है कि उनमें ईर्ष्या की भावना पैदा कर दी जाती है कि मैं फलां से बेहतर हूं।

हमने अहसास किया कि सोनू जब अपनी मर्ज़ी से पढ़ने बैठती है तो उसके ज़ेहन में एक ही बात होती है कि उसने पढ़ाई नहीं की तो कम नंबर आएंगे, वह 'फेल हो जाएगी', 'टीचर जी डांटेंगी' वगैरह–वगैरह! और इस चक्कर में उसकी जिज्ञासाओं का दमन होता जा रहा है। वह स्कूल में तो सवाल पूछ नहीं सकती पर घर में चाहकर भी नहीं पूछती क्योंकि उसकी पढ़ाई जो करनी है।

कुल मिलाकर स्कूल बच्चों में यह भावना पनपाते हैं कि स्कूल में जो कुछ भी वे करते हैं उसका लक्ष्य परीक्षा में अच्छे अंक पाने से ज़्यादा कुछ नहीं।

बहरहाल, सोनू स्कूल के वातावरण से पीड़ित है। पर अब उसे ऐसा लगने लगा है कि स्कूल में तो यह सब होना ही है। यदि उसे कुछ समझ नहीं आ रहा या दिया गया काम पूरा नहीं कर पाई तो वह अपनी गलती समझती है। हालांकि शिक्षक ही इसका अहसास क्रूरतापूर्वक करवाते हैं। हम सोनू के दोस्तों को भी जानते हैं। उनकी भी कमोबेश यही स्थिति है। वे भी स्कूल के माहौल से पीड़ित हैं। पर वही सवाल है कि हमारे सामने स्कूल का कोई विकल्प है क्या?

अपने देश में लाखों बच्चे स्कूल नहीं जाते। उसका कारण उन बच्चों के परिवार की आर्थिक या पारिवारिक परिस्थितियों का महज प्रतिकूल होना नहीं बल्कि स्कूल का माहौल भी शायद एक कारक है उसमें। बच्चा आखिर स्कूल क्यों जाए?

के.आर. शर्मा, विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र, उदयपुर।